

दर्शन शब्दका विशेषार्थ ।

दर्शन शब्दके तीन अर्थ सभी परम्पराओंमें प्रसिद्ध हैं, जैसे—घटदर्शन इत्यादि व्यवहारमें चान्क्षुष ज्ञान अर्थमें, आत्मदर्शन इत्यादि व्यवहारमें साक्षात्कार अर्थमें और न्याय-दर्शन, सांख्य-दर्शन इत्यादि व्यवहारमें खास-खास परम्परासम्मत निश्चित विचारसरणी अर्थमें दर्शन शब्दका प्रयोग सर्वसम्मत है पर उसके अन्य दो अर्थ जो जैन परम्परामें प्रसिद्ध हैं वे अन्य परम्पराओंमें प्रसिद्ध नहीं । उनमेंसे एक अर्थ तो है श्रद्धान और दूसरा अर्थ है सामान्यबोध या आलोचन मात्र । जैनशास्त्रोंमें तत्त्वश्रद्धाको दर्शन पदसे व्यवहृत किया जाता है, जैसे—‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्’—तत्त्वार्थ० १. २ । इसी तरह वस्तुके निर्विशेषसत्तामात्रके बोधको भी दर्शन कहा जाता है जैसे—‘विषय-विषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनात्’—प्रमाणन० २. ७ । दर्शन शब्दके उक्त पाँच अर्थोंमेंसे अन्तिम सामान्यबोधरूप अर्थ लेकर ही यहाँ विचार प्रस्तुत है । इसके सम्बन्धमें यहाँ छः मुद्दोंपर कुछ विचार किया जाता है ।

१. अस्तित्व—जिस बोधमें वस्तुका निर्विशेषण स्वरूपमात्र भासित हो ऐसे बोधका अस्तित्व एक या दूसरे नामसे तीन परम्पराओंके सिवाय सभी परम्पराएँ स्वीकार करती हैं । जैनपरम्परा जिसे दर्शन कहती है उसी सामान्यमात्र बोधको

(१) दर्शन शब्दका आलोचन अर्थ, जिसका दूसरा नाम अनाकार उप-योग भी है, यहाँ कहा गया है सो श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराकी अति प्रसिद्ध मान्यताको लेकर । वस्तुतः दोनों परम्पराओंमें अनाकार उपयोगके सिवाय अन्य अर्थ भी दर्शन शब्दके देखे जाते हैं । उदाहरणार्थ—लिङ्गके बिना ही साक्षात् होनेवाला बोध अनाकार या दर्शन है और लिङ्गसापेक्ष बोध साकार या ज्ञान है—यह एक मत । दूसरा मत ऐसा भी है कि वर्तमानमात्रमाही बोध-दर्शन और त्रैकालिकमाही बोध-ज्ञान—तत्त्वार्थभा० टी० २. ३ । दिग-म्बरीय धवला टीकाका ऐसा भी मत है कि जो आत्म-मात्रका अवलोकन वह दर्शन और जो बाह्य अर्थका प्रकाश वह ज्ञान । यह मत बृहद्ब्रह्मसंग्रहटीका (गा० ४४) तथा लघीयस्त्रयीकी अभयचन्द्रकृत (१. ५) में निर्दिष्ट है ।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा पूर्वोत्तरमीमांसक निर्विकल्पक और आलोचन-मात्र कहते हैं। बौद्ध परम्परामें भी उसका निर्विकल्पक नाम प्रसिद्ध है। उक्त सभी दर्शन ऐसा मानते हैं कि ज्ञानव्यापारके उत्पत्तिक्रममें सर्वप्रथम ऐसे बोधका स्थान अनिवार्यरूपसे आता है जो ग्राह्य विषयके सन्मात्र स्वरूपको ग्रहण करे पर जिसमें कोई अंश विशेष्यविशेषणरूपसे भासित न हो। फिर भी १ मध्व और वल्लभकी दो वेदान्त परम्पराएँ और तीसरी भर्तृहरि और उसके पूर्ववर्ती शाब्दिकोकी परम्परा ज्ञानव्यापारके उत्पत्तिक्रममें किसी भी प्रकारके सामान्यमात्र बोधका अस्तित्व स्वीकार नहीं करती। उक्त तीन परम्पराओंका मन्तव्य है कि ऐसा बोध कोई हो ही नहीं सकता जिसमें कोई न कोई विशेष भासित न हो या जिसमें किसी भी प्रकारका विशेष्य-विशेषण संबंध भासित न हो। उनका कहना है कि प्राथमिकदशापन्न ज्ञान भी किसी न किसी विशेष को, चाहे वह विशेष स्थूल ही क्यों न हो, प्रकाशित करता ही है अतएव ज्ञानमात्र सविकल्पक हैं। निर्विकल्पकका मतलब इतना ही समझना चाहिए कि उसमें इतर ज्ञानोंकी अपेक्षा विशेष कम भासित होते हैं। ज्ञानमात्रको सविकल्पक माननेवाली उक्त तीन परम्पराओंमें भी शाब्दिक परम्परा ही प्राचीन है। सम्भव है भर्तृहरिकी उस परम्पराको ही मध्व और वल्लभने अपनाया हो।

२. लौकिकालौकिकता—निर्विकल्पक अस्तित्व माननेवाली सभी दार्शनिक परम्पराएँ लौकिक निर्विकल्पक अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षजन्य निर्विकल्पकको तो मानती हैं ही पर यहाँ प्रश्न है अलौकिक निर्विकल्पक अस्तित्व का। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएँ ऐसे भी निर्विकल्पकको मानती हैं जो इन्द्रियसन्निकर्षके सिवाय भी योग या विशिष्टात्मशक्तिसे उत्पन्न होता है। बौद्ध परम्परामें ऐसा अलौकिक निर्विकल्पक योगसंवेदनके नामसे प्रसिद्ध है जब कि जैन परम्परामें अवधिदर्शन और केवलदर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्वोत्तरमीमांसक विविध कक्षावाले योगियोंका तथा उनके योगजन्य अलौकिक ज्ञानका अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतएव उनके मतानुसार भी अलौकिक निर्विकल्पक अस्तित्व मान लेनेमें कुछ बाधक जान नहीं पड़ता। अगर यह धारणा ठीक है तो कहना होगा कि सभी निर्विकल्पकास्तित्ववादी सविकल्पक ज्ञानकी तरह निर्विकल्पक ज्ञानको भी लौकिक-अलौकिक रूपसे दो प्रकार का मानते हैं।

१. Indian Psychology: Perception. P. 52-54

३. विषयस्वरूप—सभी निर्विकल्पकवादी सत्तामात्रको निर्विकल्पका विषय मानते हैं पर सत्ताके स्वरूपके बारेमें सभी एक मत नहीं। अतएव निर्विकल्पक के ग्राह्यविषयका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न दर्शनके अनुसार जुदा-जुदा ही फलित होता है। बौद्ध परम्पराके अनुसार अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है और वह भी क्षणिक व्यक्तिमात्रमें ही पर्यवसित है जब कि शंकर वेदान्तके अनुसार अखण्ड और सर्वव्यापक ब्रह्म ही सत्त्वस्वरूप है, जो न देशबद्ध है न कालबद्ध। न्याय वैशेषिक और पूर्व मीमांसकके अनुसार अस्तित्वमात्र सत्ता है या जातिरूप सत्ता है जो बौद्ध और वेदान्तसम्मत सत्तासे भिन्न है। सांख्य-योग और जैन-परम्परामें सत्ता न तो क्षणिक व्यक्ति मात्र नियत है, न ब्रह्मस्वरूप है और न जाति रूप है। उक्त तीनों परम्पराएँ परिणामिनित्यत्ववादी होनेके कारण उनके मतानुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप ही सत्ता फलित होती है। जो कुछ हो, पर इतना तो निर्विवाद है कि सभी निर्विकल्पकवादी निर्विकल्पकके ग्राह्य विषय रूपसे सत्तामात्रका ही प्रतिपादन करते हैं।

४. मात्र प्रत्यक्षरूप—कोई ज्ञान परोक्षरूप भी होता है और प्रत्यक्षरूप भी जैसे सविकल्पक ज्ञान, पर निर्विकल्पक ज्ञान तो सभी निर्विकल्पकवादियोंके द्वारा केवल प्रत्यक्ष-रूप माना गया है। कोई उसकी परोक्षता नहीं मानता, क्योंकि निर्विकल्पक, चाहे लौकिक हो या अलौकिक, पर उसकी उत्पत्ति किसी ज्ञानसे व्यवहित न होनेके कारण वह साक्षात् रूप होनेसे प्रत्यक्ष ही है। परन्तु जैन परम्पराके अनुसार दर्शनकी गणना परोक्षमें भी की जानी चाहिए, क्योंकि तार्किक परिभाषाके अनुसार परोक्ष मतिज्ञानका सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है अतएव तदनुसार मति उपयोगके क्रममें सर्वप्रथम अवश्य होनेवाले दर्शन नामक बोधको भी सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है पर आगमिक प्राचीन विभाग, जिसमें पारमार्थिक-सांख्यव्यवहारिकरूपसे प्रत्यक्षके भेदोंको स्थान नहीं है, तदनुसार तो मतिज्ञान परोक्ष मात्र ही माना जाता है जैसा कि तत्त्वार्थ-सूत्र (१. ११) में देखा जाता है। तदनुसार जैनपरम्परामें इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप ही है प्रत्यक्षरूप नहीं। सारांश यह कि जैन परम्परामें तार्किक परिभाषाके अनुसार दर्शन प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। अवधि और केवल रूप दर्शन तो मात्र प्रत्यक्षरूप ही हैं जब कि इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप होने पर भी सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जाता है। परन्तु आगमिक परिपाटीके अनुसार इन्द्रियजन्य दर्शन केवल परोक्ष ही है और इन्द्रियनिरपेक्ष अवध्यादि दर्शन केवल प्रत्यक्ष ही हैं।

५. उत्पादक सामग्री—लौकिक निर्विकल्पक जो जैन तार्किक परम्पराके

अनुसार सांख्यव्यवहारिक दर्शन है उसकी उत्पादक सामग्रीमें विषयेन्द्रियसन्निपात और यथासम्भव आलोकादि सन्निविष्ट हैं। पर अलौकिक निर्विकल्प जो जैन-परम्पराके अनुसार पारमार्थिक दर्शन है उसकी उत्पत्ति इन्द्रियसन्निकर्षके सिवाय ही केवल विशिष्ट आत्मशक्तिसे मानी गई है। उत्पादक सामग्रीके विषयमें जैन और जैनेतर परम्पराएँ कोई मतभेद नहीं रखती। फिर भी इस विषयमें शाङ्कर वेदान्तका मन्तव्य जुदा है जो ध्यान देने योग्य है। वह मानता है कि 'तत्त्व-मसि' इत्यादि महावाक्यजन्य अखण्ड ब्रह्मबोध भी निर्विकल्पक है। इसके अनुसार निर्विकल्पकका उत्पादक शब्द आदि भी हुआ जो अन्य परम्परा-सम्मत नहीं।

६. प्रामाण्य—निर्विकल्पके प्रामाण्यके सम्बन्धमें जैनेतर परम्पराएँ भी एक-मत नहीं। बौद्ध और वेदान्त दर्शन तो निर्विकल्पकको ही प्रमाण मानते हैं इतना ही नहीं बल्कि उनके मतानुसार निर्विकल्पक ही मुख्य व पारमार्थिक प्रमाण है। न्याय-वैशेषिक दर्शनमें निर्विकल्पकके प्रमात्व संबन्धमें एकविध कल्पना नहीं है। प्राचीन परम्पराके अनुसार निर्विकल्पक प्रमारूप माना जाता है जैसा कि श्रीधरने स्पष्ट किया है (कन्दली पृ० १६८) और विश्वनाथने भी भ्रमभिन्नस्वरूप प्रमात्व मानकर निर्विकल्पकको प्रमा कहा है (कारिकावली का० १३४) परन्तु गङ्गेशकी नव्य परम्पराके अनुसार निर्विकल्पक न प्रमा है और न अप्रमा। तदनुसार प्रमात्व किंवा अप्रमात्व प्रकारतादिघटित होनेसे, निर्विकल्प जो प्रकारतादिशून्य है वह प्रमा-अप्रमा उभय विलक्षण है—कारिकावली का० १३५। पूर्वमीमांसक और सांख्य-योगदर्शन सामान्यतः ऐसे विषयोंमें न्याय-वैशेषिकानुसारी होनेसे उनके मतानुसार भी निर्विकल्पकके प्रमात्वकी वे ही कल्पमाएँ मानी जानी चाहिएँ जो न्यायवैशेषिक परम्परामें स्थिर हुई हैं। इस सम्बन्धमें जैन परम्पराका मन्तव्य यहाँ विशेष रूपसे वर्णन करने योग्य है।

जैनपरम्परामें प्रमात्व किंवा प्रामाण्यका प्रश्न उसमें तर्कयुग आनेके बादका है, पहिलेका नहीं। पहिले तो उसमें मात्र आगमिक दृष्टि थी। आगमिक दृष्टिके अनुसार दर्शनोपयोगको प्रमाण किंवा अप्रमाण कहनेका प्रश्न ही न था। उस दृष्टिके अनुसार दर्शन हो या ज्ञान, या तो वह सम्यक् हो सकता है या मिथ्या। उसका सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भी आध्यात्मिक भावानुसारी ही माना जाता था। अगर कोई आत्मा कमसे कम चतुर्थ गुणस्थानका अधिकारी हो अर्थात् वह सम्यक्त्वप्राप्त हो तो उसका सामान्य या विशेष कोई भी उपयोग मोक्षमार्गरूप तथा सम्यग्रूप माना जाता है। तदनुसार आगमिक दृष्टिसे सम्यक्त्वयुक्त आत्मा-

का दर्शनोपयोग सम्यक्दर्शन है और मिथ्यादृष्टियुक्त आत्माका दर्शनोपयोग मिथ्यादर्शन है। व्यवहारमें मिथ्या, भ्रम या व्यभिचारी समझा जानेवाला भी दर्शन अगर सम्यक्त्वधारि-आत्मगत है तो वह सम्यग्दर्शन ही है जब कि सत्य अभ्रम और अबाधित समझा जानेवाला भी दर्शनोपयोग अगर मिथ्यादृष्टियुक्त है तो वह मिथ्यादर्शन ही है १।

दर्शनके सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्वका आगमिक दृष्टिसे जो आपेक्षिक वर्णन ऊपर किया गया है वह सम्मतिटीकाकार अभयदेवने दर्शनको भी प्रमाण कहा है इस आधारपर समझना चाहिए। तथा उपाध्याय यशोविजयजीने संशय आदि ज्ञानोंको भी सम्यक्दृष्टियुक्त होनेपर सम्यक् कहा है—इस आधारपर समझना चाहिए। आगमिक प्राचीन और श्वेताम्बर-दिगम्बर उभय साधारण परम्परा तो ऐसा नहीं मानती, क्योंकि दोनों परम्पराओंके अनुसार चक्षु, अचक्षु, और अबधि तीनों दर्शन दर्शन ही माने गये हैं। उनमेंसे न कोई सम्यक् या न कोई मिथ्या और न कोई सम्यक् मिथ्या उभयविध माना गया है जैसा कि मति-श्रुत अबधि ज्ञान सम्यक् और मिथ्या रूपसे विभाजित हैं। इससे यही फलित होता है कि दर्शन उपयोग मात्र निराकार होनेसे उसमें सम्यग्दृष्टि किंवा मिथ्यादृष्टिप्रयुक्त अन्तरकी कल्पना की नहीं जा सकती। दर्शन चाहे चक्षु हो, अचक्षु हो या अबधि—वह दर्शन मात्र है। उसे न सम्यग्दर्शन कहना चाहिए और न मिथ्यादर्शन। यही कारण है कि पहिले गुणस्थानमें भी वे दर्शन ही माने गए हैं जैसा कि चौथे गुणस्थानमें। यह वस्तु गन्धहस्ति सिद्धसेनने सूचित भी की है—“अत्र च यथा साकाराद्वायां सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्विशेषः, नैव-मस्ति दर्शने, अनाकारत्वे द्वयोरपि तुल्यत्वादित्यर्थः”—तत्त्वार्थभा० टी २.६।

यह हुई आगमिक दृष्टिकी बात जिसके अनुसार उमास्वातिने उपयोगमें सम्यक्त्व-असम्यक्त्वका निदर्शन किया है। पर जैनपरम्परामें तर्कयुग दाखिल होते ही प्रमात्व-अप्रमात्व या प्रामाण्य-अप्रामाण्यका प्रश्न आया। और उसका विचार भी आध्यात्मिक भावानुसारी न होकर विषयानुसारी किया जाने लगा जैसा कि जैनेतर दर्शनोंमें तार्किक विद्वान् कर रहे थे। इस तार्किक दृष्टिके अनुसार जैनपरम्परा दर्शनको प्रमाण मानती है, अप्रमाण मानती है, उभयरूप मानती है या उभयमिन्न मानती है? यह प्रश्न यहाँ प्रस्तुत है।

१—“सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनं संशयादीनामपि ज्ञानत्वस्य महाभाष्यकृता परिभाषितत्वात्”—ज्ञानबिन्दु पृ० १३६ B. नन्दी सू० ४१।

तार्किकदृष्टिके अनुसार भी जैनपरम्परा में दर्शनके प्रमात्व या अप्रमात्वके बारेमें कोई एकवाक्यता नहीं। सामान्यरूपसे श्वेताम्बर ही वा दिगम्बर सभी तार्किक दर्शन को प्रमाण कोटिसे बाहर ही रखते हैं। क्योंकि वे सभी बौद्ध-सम्मत निर्विकल्पकके प्रमात्व का खण्डन करते हैं और अपने-अपने प्रमाण लक्षणमें विशेषोपयोगबोधक ज्ञान, निर्णय आदि पद दाखिल करके सामान्य उपयोगरूप दर्शन को प्रमाणलक्षणका अलक्ष्य ही मानते हैं^१। इस तरह दर्शनको प्रमाण न माननेकी तार्किक परम्परा श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी ग्रन्थोंमें साधारण है। माणिक्यनन्दी और वादी देवसूरिने तो दर्शनको न केवल प्रमाणबाह्य ही रखा है बल्कि उसे प्रमाणाभास (परी० ६. २। प्रमाणन० ६. २४, २५) भी कहा है।

सन्मतिटीकाकार अभयदेवने (सन्मतिटी० पृ० ४५७) दर्शनको प्रमाण कहा है पर वह कथन तार्किकदृष्टिसे न समझना चाहिए। क्योंकि उन्होंने आगमानुसारी सन्मतिकी व्याख्या करते समय आगमदृष्टि ही लक्ष्यमें रखकर दर्शनको सम्यग्दर्शन अर्थमें प्रमाण कहा है, न कि तार्किकदृष्टिसे विषयानुसारी प्रमाण। यह विवेक उनके उस सन्दर्भसे हो जाता है।

अलबत्ता उपाध्याय यशोविजयजीके दर्शनसम्बन्धी प्रामाण्य-अप्रामाण्य विचारमें कुछ विरोध सा जान पड़ता है। एक ओर वे दर्शनको व्यञ्जनावग्रह-अनन्तरभावी नैश्चयिक अवग्रहरूप बतलाते हैं^२ जो मतिव्यापार होनेके कारण प्रमाण कोटिमें आ सकता है। और दूसरी ओर वे वादीदेवसूरिके प्रमाणलक्षण-वाले सूत्रकी व्याख्यामें ज्ञानपदका प्रयोजन बतलाते हुए दर्शनको प्रमाणकोटिसे बहिर्भूत बतलाते हैं (तर्कभाषा पृ० १।) इस तरह उनके कथनमें जहाँ एक ओर दर्शन बिलकुल प्रमाणबहिर्भूत है वहाँ दूसरी ओर अवग्रह रूप होनेसे प्रमाणकोटिमें आने योग्य भी है। परन्तु जान पड़ता है उनका तात्पर्य कुछ और है। और सम्भवतः वह तात्पर्य यह है कि मर्त्यश होनेपर भी नैश्चयिक अवग्रह प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहारक्षम न होनेके कारण प्रमाणरूप गिना ही न जाना चाहिए। इसी अभिप्रायसे उन्होंने दर्शनको प्रमाणकोटिबहिर्भूत बहलाया है ऐसा मान लेनेसे फिर कोई विरोध नहीं रहता।

आचार्य हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसामें दर्शनसे संबन्ध रखनेवाले विचार तीन

१ लघो०परी० १.३। प्रमेयक० पृ० ८। प्रमाणन० १.२

२ तर्कभाषा पृ० ५। ज्ञानविन्दु पृ० १३८।

जगह प्रसङ्गवश प्रगट किए हैं। अवग्रहका स्वरूप दर्शाते हुए उन्होंने कहा कि दर्शन जो अविकल्पक है वह अवग्रह नहीं, अवग्रहका परिणामी कारण अवश्य है और वह इन्द्रियार्थ संबन्धके बाद पर अवग्रहके पूर्व उत्पन्न होता है—१.१.२६—बौद्धसम्मत निर्विकल्पक ज्ञानको अप्रमाण बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह अनध्यवसाय रूप होनेसे प्रमाण नहीं, अध्यवसाय या निर्णय ही प्रमाण गिना जाना चाहिये—१.१.६। उन्होंने निर्णयका अर्थ बतलाते हुए कहा है कि अनध्यवसायसे भिन्न तथा अविकल्पक एवं संशयसे भिन्न ज्ञान ही निर्णय है—पृ०३.पं०१। आचार्यके उक्त सभी कथनोंसे फलित यही होता है कि वे जैनपरम्पराप्रसिद्ध दर्शन और बौद्धपरम्पराप्रसिद्ध निर्विकल्पकको एक ही मानते हैं और दर्शनको अनिर्णय रूप होनेसे प्रमाण नहीं मानते तथा उनका यह अप्रमाणात्व कथन भी तार्किक दृष्टिसे है, आगम दृष्टिसे नहीं, जैसा कि अभयदेवभिन्न सभी जैन तार्किक मानते आए हैं।

आ० हेमचन्द्रोक्त अवग्रहका परिणामिकारणरूप दर्शन ही उपाध्यायजीका नैश्चयिक अवग्रह समझना चाहिए।

ई० १६३६]

[प्रमाणमीमांसा